भवाई

कल्याण कुमार

मनुष्य का जीवनारंभ 'लोक' में होता है एवं उसका संपूर्ण जीवन 'नाट्य' का पर्याय है। हम सभी सामान्य तौर पर अपने बड़े-बुजुर्गों के मुख से कहते हुए सुनते है कि यह सपूर्ण जीवन नाटक है, जिसमें मानव विभिन्न उचित-अनुचित परिस्थितियों के बीच अपने नाट्य-कर्म का प्रस्तुतीकरण करता है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि नाटक मानव जीवन का अभिन्न अंग है। अपने जीवन में मानव जाति किसी भी एक कार्य को लंबे समय तक बिना अंतराल के करने में असमर्थ है। इस अंतराल में मनुष्य अपनी शारीरिक व मानसिक थकावट को दूर कर पुनः ऊर्जा से पोषित होता है। प्राचीन समय में विद्युतीय मनोरंजन के उन करणों के अभाव में गाँव-देहात के कृषक, खेतिहर मजूदर, बुनकर, लुहार, सुनार एवं दर्जी आदि विभिन्न व्यवसायों में लगे हुए प्राणी अपने कार्यों की समाप्ति के बाद किसी चौराहे, मंदिर के प्रांगण व अन्य उपयुक्त स्थलों पर एकत्रित हो नाटक का आश्रय लेकर मनोरंजन करते थे।

भरतमुनि के नाट्यशास्त्र को पचंम वेद की उपाधि से अभिहित किया गया है। नाट्यशास्त्र में ऋग्वेद से पाठ, सामवेद से गीत, यजुर्वेद से अभिनय एवं अथर्ववेद से रस का संग्रह किया है। यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाए तो पाठ, गीत, अभिनय एवं रस लोक में मूलतः विद्यमान है। अतः नाटक के मूल में ही लोक-नाट्य विद्यमान है, इस कथन में कोई अतिश्योक्ति नही हैं। हां, समयानुसार भरतमुनि ने अपने नाट्य शास्त्र द्वारा नाटक को एक शास्त्रीय कलेवर अवश्य प्रदान किया है। आधुनिक युग में नाटकों के उत्थान कार्य भारतेंदु ने किया।

लोकनाट्य या लोक-धर्मीनाटक शास्त्रीय नाटकों के बिल्कुल विपरीत प्रवृत्ति के होते हैं। इसमें नियमों, अत्यधिक साज-सज्जा व बाह्याडंबर आदि का कोई शास्त्रीय बंधन नही होता। लोकनाट्य में सीमित साधनों में उन्मुक्त अभिव्यक्ति कौशल विद्यमान है। लोकनाट्य सीमीत साधनों में भी अपना रंगमंच तैयार कर लेता है एवं इसकी रंगमंचीयता का उद्देश्य स्वयं के साथ-साथ सभी को मनोरजंन प्रदान करना है। देवीलाल सामर का कथन भी है "केवल मनोरंजित होना ही नहीं, दूसरों को मनोरजंन प्रदान करना जिस प्रवृत्ति का लक्ष्य हो वही रंगमंचीय प्रवृत्ति कहलाती है।"[1] लोकनाट्य लोक के लिए होता है। इसमें लोक जीवन की सुगंध होती है तो दूसरी तरफ इसके अनगढ़ स्वरूप में भी विशिष्ट समाज की सभ्यता, संस्कृति, मानसिकता व परंपरा से पोषित आस्था के दर्शन भी होते है। लोक-नाट्य की सटीक रूपरेखा प्रस्तुत करते हुए श्याम परमार का कथन है "लोक-नाट्य की विशेषता उसके लोकधर्मी स्वरूप में निहित है। लोक जीवन में उसका अंग-अंगी का नाता है। बाह्याडम्बरों और नागरिक सुसंस्कृत चेष्टाओं के बिना, लोक के मनोभावों और प्रतिक्रियाओं का स्वतंत्र विकास केवल लोकधर्मी नाट्यशैली में ही संभव है। लोकवार्ता का एक स्वतंत्र अंग होने के कारण लोक-जीवन में इन नाटकों का अपना अनोखा आकर्षण है।"[2]

अतः लोक-नाट्य लोक में सामान्य जन के लिए प्रस्तुत किए जाने वाले होते है। जिसमें सीमित साधनों में भी अपार मनोभावों रूपी संतोष, शांति व मनोरजंन रूपी अमूल्य निधि का सचंयन होता है। लोक-नाट्य की एक विशेषता यह भी है कि अन्य शास्त्रीय नाटकों की भांति अधिक संरक्षण की आवश्यकता नही अपितु इनमें हजारी प्रसाद द्विवेदी के 'कुटज' की भांति अदम्य उत्साह व जीजिविषा की भावना विद्यमान रहती है। इसका परिणाम यह है कि आधुनिक दौर में भी इन लोकनाट्यों का पूर्णतः लोप नही हुआ है। इस तथ्य से तो हम सभी भिज्ञ है कि भारत की भूमि विविधता की भूमि है। यहाँ खान-पान, रीति-रिवाज, व्रत-त्यौहार आदि में विभिन्नता है तो लोक- नाट्यों में विभिन्नता होना स्वाभाविक है। यह विभिन्नता अलगाव के स्तर पर न होकर विशिष्टता के स्तर पर है। भारत भूमि के कुछ प्रमुख लोकनाट्य इस प्रकार है- उत्तर भारत की नौटंकी, मध्य प्रदेश का माच, बिहार का बिदेसिया व कर्नाटक का यक्षगान आदि। प्रस्तुत आलेख गुजरात व राजस्थान के 'भवाई' लोकनाट्य पर केंद्रित है।

'भवाई' लोकनाट्य मुख्यतः उत्तरीगुजरात के कच्छ-कठियावाड़ क्षेत्र में प्रसिद्ध है। समय परिवर्तन के साथ-साथ यह लोकनाट्य समग्र गुजरात, निकटवर्ती राजस्थान और मध्यप्रदेश के मालवा अचंल तक प्रसिद्धि प्राप्त कर चुका है। यह लोकनाट्य लगभग 600 वर्षों से गुजरात के लोक जीवन के मनोरजंन का साधन बना हुआ है। राजस्थान और गुजरात की अपनी-अपनी विशिष्ट आंचलिकता की छाप 'भवाई' लोकनाट्य पर पड़ी है जो स्वाभाविक है।

'भवाई' लोकनाट्य परविस्तार से जानने से पूर्व इसके उद्भव व नामकरण का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक प्रतीत होता है। भवाई लोकनाट्य का उद्भव मुख्यतः भक्ति-भावना की दृष्टि से हुआ था परंतु समय की मांग के साथ-साथ सामाजिक, ऐतिहासिक, श्रृंगारिक व पौराणिक विषयों का भी समावेश हुआ। 'भवाई' शब्द की उत्पत्ति का एक मत है, 'भव' अर्थात् 'जीवन' और 'वाही' अर्थात् 'वहन करने वाली'। कुल मिलाकर जीवन की भावनाओं को अभिव्यक्त करने वाली शैली को 'भवाई' कहा गया है। दूसरा मत यह है कि भवानी अर्थात् अंबादेवी की भक्ति-आराधना के लिए प्रस्तुत नाट्य प्रस्तुतियाँ भविष्य में 'भवाई' कहलाई।

'भवाई' से संबंधित दो प्रमुख घटनाएँ / कथाएँ प्रचलित है जिसका संबंध इसके नामकरण से है। इन दो घटनाओं में से प्रथम घटना गुजराती के ब्राह्मण वर्ग के कवि, कथाकार, रचनाकार, नृत्य-संगीत में प्रवीण व भवाई के प्रारंभकर्ता असाइत ठाकर से संबंधित है। 13वीं शताब्दी में मोहम्मद तुगलक के शासन काल में असाइत ठाकर ने गंगानाम की मुहं बोली पुत्री की अस्मिता-रक्षा हेतु मलेच्छों के साथ भोजन किया। इसके पश्चात ब्राह्मण वर्ग ने असाइत ठाकर का बहिष्कार कर दिया। असाइत ने इस चुनौती को स्वीकार कर अपने तीनों पुत्रों के साथ गाँव का त्याग किया। इनके तीनों पुत्रों के परिवार को 'तरगला' नाम से जाना गया। समयानुसार कला के साधकों की संख्या बढ़ती गई एवं असाइत के वेशों में नाट्य-मचंन बढ़ने लगा। इतना ही नहीं गाँव-गाँव में भवाई के दल (टोला) बनते चले गए। 'हंसुली' नामक कविता संग्रह इनकी प्रतिभा की आधारशिला है।

दूसरी घटना के केंद्र में राजस्थान के के कड़ी गाँव के नागाजी जाट है। नागाजी जाट नाचने-गाने के बहुत ही शौकीन थे। गाँव के लडाकू जवान जो वीररस से प्रभावित रहते थे वे इन कलाओं का विरोध करने लगे। श्रृंगार और वीर का मेल कहाँ? कवि वरवृंद ने भी लिखा है-

"नीकी पै फीकी लगै, बिनु अवसर की बात।

जैसे बरनत युद्ध में, रससिंगार न सुहात।।"[3]

बहुत समझाने पर भी जब नागाजी जाट नहीं माने तब वीररस के प्रेमियों ने कला प्रेमी को नगारा, भाला, जाजम और भूगल देकर उसका जाति बहिष्कार कर दिया। नागा जाट बहिष्करण के पश्चात सपरिवार गाँव-गाँव घूमकर नृत्य-गान करता रहा। समयानुसार जाति के बर्धनों को तोड़कर कई कलाकार इस समूह में शामिल हुए। राजस्थान के ये घुमंतू कलाकार पूर्व में 'भमाई' एवं बाद में 'भवाई' कहलाए। वर्तमान में भी राजस्थान के ग्रामीण क्षेत्रों में 'भवाई' के दल मिलते हैं। भवाई लोकनाट्य के प्रदर्शन कला में 'दयाराम' का नाम सर्वोपरि है।

'भवाई' लोकनाट्य मुख्यतः चार प्रकार के होते है- तुरी, तलगारे, मराठे और डाक लिये। तुरी जाति के भवाई गुजरात में पाए जाते है। पाटीदार एवं राजपूत वर्ग इनके यजमान होते हैं। मध्य प्रदेश में तल गारे भवाई पाए जाते है इनके यजमान ब्राह्मण होते हैं। मराठे भवाइयों की बस्ती मेवाड़ में पाई जाती है। मराठे रावल भी कहे जाते है। तेली, धाकड़, कुलमी, जाट, कुमावत, बलाई, कीर, कुम्हार, आंजणे, नायक व लोदे आदि इनके यजमान होते हैं। मालवा में डाक लिया भावाई अच्छी मात्रा में पाए जाते हैं।

भवाई लोकनाट्य व नृत्य विशेषतः अपने स्वागों के लिए प्रसिद्ध है। ये विभिन्न प्रकार के स्वांगों को धारण करते हैं। इनमें से कुछ इस प्रकार है- बोरा-बोरी (बनियों का खेल), सूरदास (अंधे और कुचरित्र साधु का खेल), डोकरी (जिसमे वृद्धा अपनी पुत्री का विवाह एक वृद्ध से करती है- समाज की कुप्रथा पर हास्यात्यमक व्यंग्य), लाडा-लाडी (दो पत्नियों वाले अधेड की दुर्दशा-बहु विवाह का दुष्परिणाम), शंकरिया (का लवेलियों युवक का जोगन अथवास पेरी से प्रेम का अभिनय), बीका जी, बाघाजी, ढोलामारु आदि। गुजरात में यद्यपि इसी नाम के खेल नहीं मिलते पर सामाजिक जीवन से संबंधित कथानकों में काफी साम्य है।[4] भवाई लोकनाट्य से संबंधित महत्वपूर्ण जानकारियों के पश्चात् इस लोकनाट्य की आत्मिक विशिष्टताओं की चर्चा आवश्यक है।

'भवाई' लोकनाट्य का प्रस्तुतीकरण

भवाई लोकनाट्य अपने आपमें एक विशिष्ट लोक-नाट्य है। इस नाटक के अधिकांश भाग पद्यांश में होते है लेकिन सवांद गद्यांश रूप में प्रस्तुत किए जाते हैं। इस लोकनाट्य का आरंभ रंगमंच पर नाच-गाने के साथ होता है। नाच-गाना समाप्त होने पर कलाकार अपने कलात्मक ढंग से विवादी पात्र से प्रश्न करता है।

प्रश्न का उत्तर विवादी पात्र न देकर सूत्रधार देता है, प्राप्त उत्तरों की सहमति पात्र अपने नृत्य द्वारा देता है। इस तरह संवाद घंटेभर चलते रहते हैं। इन नाटकों का मुख्य भार सूत्रधार पर ही होता है।

भवाई लोकनाट्य की एक प्रमुख विशेषता यह रही है कि इस नाट्य कला में आरंभ और अंत का कोई महत्व नहीं होता है। महत्व है तो केवल अपने नाटक को प्रभावी ढंग से प्रस्तुत करने का। भवाई लोकनाट्य की कथादर्शकों को सामान्यतः पता होती है इसलिए वह इस पर जोर भी नहीं देते लेकिन प्रस्तुतीकरण में कोई कमी दिखे तो वह तत्काल उसकी शिकायत कलाकार से करते हैं। इनके यजमान भी इनको राशि देने से पूर्व इनके मचंन काजी भर आनंद उठाते हैं।

भवाई लोकनाट्य के किसी विशिष्ट प्रसंग में वादी प्रतिवादी दोनों सूत्रधार के माध्यम से एक-दूसरे से सवाल करते हैं और जवाब भी उसके माध्यम से प्राप्त करते हैं। प्रस्तुतीकरण की दृष्टि से यह शैली अत्यंत महत्वपूर्ण व मर्म स्पर्शी होती है। भवाई यह स्वरूप मध्यकालीन साहित्य के भ्रमर गीत का पर्याय स्वरूप प्रतीत होता है। इस लोकनाट्य के प्रस्तुतीकरण की एक मुख्य विशेषता यह है कि ये सभी गद्यात्मक सवांद पूर्व नियोजित व कंठस्थ न होकर समय, समाज, दर्शकों की मनःस्थिति व स्थल स्थिति की प्रेरणा के उपज होते हैं।

भावई लोक-नाट्य में नृत्य-गायन व वादन

भवाई लोकनाट्य का प्रारंभ नृत्य-गान से ही प्रारंभ होता है। ये कलाकार गीत गाकर नृत्य करते हैं। इस लोकनाट्य में ढोलक, सारंगी, पखावज व मुख्य वाद्य भंगल द्वारा दर्शकजन को समेटकर रंगमंच के आस-पास एकत्रित कर देते हैं। भवाई का भूगंल वाद्य नाटक में पात्रों के प्रवेश, प्रस्थान और नाटक के उत्थान पर विशिष्ट ध्वनि प्रकट करता है। ये वादक रंगमंच के भीतर एक कोने में बैठकर अपनी वादन कला द्वारा नाटक को फलीभूत करने में शत प्रतिशत योगदान देते हैं। भवाई लोकनाट्य के कलाकार गायन कला में निम्नतर श्रेणी के होते हैं। ये किसी भी प्रचलित धुन को पकडकर उसी में अपनी टूटी-फूटी भाषा में अपना प्रयोजन सिद्ध करते हैं। ये कलाकार अपनी श्रेष्ठ नृत्य, कला, वादन व शारीरिक भंगिमाओं में अपनी गायन कला की कमी को छिपा लेते हैं। दर्शकगण इस लोकनाट्य में गायन, वादन, नृत्य व अभिनय का हृदय से स्वागत करते हैं।

भवाई लोक-नाट्य का परिधान

भवाई लोक नाट्य पोशाक की अनिवार्यता को न्यून मानता है। वे अपने प्रदर्शन पर अधिक विश्वास करते हैं। हालांकि फिर भी वे नाटक प्रस्तुत करते समय प्रतीकात्मक ढंग से परिधान धारण करते हैं, जिससे दर्शकों को पात्रों की भूमिका निर्धारण में समस्या-समस्या उत्पन्न न हो। भवाई लोकनाट्य के कलाकार एक

साधु की भूमिका को अदा करने के लिए एक कपड़े या रस्सी को सिर पर इस तरह लपेटता है कि उसका कुछ हिस्सा सिर पर लटके सफेद व गेरु चादर को शरीर व जांघ पर लपेट लेता है। सिर पर लपेटे कपड़े या रस्सी को जटानुमा आकार दे देता है। ये कलाकार राजा की भूमिका के लिए सिर पर मुकुट, गले में दो-चार हार व शरीर परअंग रखी धारण करना ही पर्याप्त समझते हैं। स्त्री पात्रों को लेकर इनके पहनावे थोड़े अलग होते हैं क्योंकि स्त्री पात्रों में भी एक अलग प्रकार की उछल-कूद का प्रदर्शन करना पड़ता है। राजस्थानी प्रसंगों में ये घाघरे व ओढ़नी का प्रयोग न करके एक तंग लहंगा-सा पहनते हैं और शरीर पर साड़ी को इस तरह लपेटते हैं कि उसके पल्ले इधर-उधर न उड़ें। 'भवाई' नाटक के 'कान-गुजरी' खेल में कन्हैया नीचे से अवध के नवाब की भांति लगता है। भवाई कलाकार पगड़ी के स्थान पर साफे के प्रयोग को उचित मानते हैं क्योंकि इनको शीघ्र बदला जा सकता है। भवाई परिधान में स्त्री और पुरूष दोनों के लिए चूड़ीदार पायजमा अनिवार्य है। इनके परिधान में स्त्री पात्र के लिए बाल और वक्ष तथा पुरूष पात्र के लिए दाढ़ी-मूंछ अनिवार्य अंग बन चुके हैं। इनमें धोती, घाघरा या अन्य कोई ढीला परिधान हेय दृष्टि का परिचायक है।

भवाई लोक-नाट्य में कल्पना-शक्ति

भवाई लोकनाट्य मुख्यतः कल्पना शक्ति पर ही आधारित है। वादी व प्रतिवादी के बीच चलने वाले वाद-विवाद को व्यंग्यात्मक, हास्यात्मक, रुचिकर व विनोद प्रिय बनाने के मूल में इन कलाकारों की कल्पना शक्ति कार्य करती है। ये कलाकार अपनी कुशाग्र बुद्धि द्वारा बातों को रोमांचक ढंग से आगे बढ़ाते जाते हैं, जिसमे बनिया, नाई, साहूकार आदि पर व्यंग्य होता है जिससे ये प्रताडित किए गए होते हैं। इसके कारण भी ग्रामीण क्षेत्रों में भवाइयों बदसलूकी नहीं की जाती क्योंकि ये अपने नाटक में उनका कच्चा-चिठ्ठा खोलकर सबके समक्ष पेश कर देते हैं। देवी लालसा मर के अनुसार "ग्रामीण खेलों में जैसे ही कोई भवाई कुछ बात छेड़ता है तो दर्शक तत्काल ही अपनी बात उसके साथ जोड़ते हैं और भवाई उसमें अपनी कल्पना का पुट लगाकर उसका विस्तार करता जाता है। वास्तव में तो संवादों का वादी भवाई पात्र है, प्रतिवादी जनता के नाई, गाँव का बनिया, गाँव का बलाई तथा चौकीदार जिनसे वे बहुधा तंग से रहते हैं, उनकी मजाकों के सर्वाधिक शिकार होते हैं।"[5] इनकी कल्पना शक्ति की उड़ान सभी को चकित कर देती है क्योंकि वे बिना किसी पूर्व योजना के समय व परिस्थिति के अनुसार संवादों को रसात्मक ढंग से दर्शकों के सम्मुख घंटो-घंटों प्रस्तुत किए जाते हैं। भवाई लोक कलाकारों की कल्पना शक्ति पर देवी लाला सामर का कथन है "रटे हुए संवादों, सधे सधाये तर्कों, गीत-नृत्यों तथा पूर्व परंपराओं में रहकर भी जो प्रशिक्षित एवं साधन-सुविधाओं से सम्पन्न कलाकार नहीं कर सकते, वह भवाई कलाकार सुगम तरीके से कर लेता है।"[6] इस प्रकार यह तो तय है कि कल्पना के अभाव में भवाईलोक-नाट्य पंगु है।

भवाई लोक-नाट्य की मंच-सज्जा

भवाई एक ग्रामीण लोकनाट्य है। नाटक को प्रस्तुत करने के लिए आधुनिक युग के चमचमाते मंच जो कि विभिन्न यांत्रिक सुविधाओं से लैस होते हैं, यहाँ उनकी आवश्यकता नहीं। इस लोकनाट्य का उद्देश्य दर्शकों का मनोरंजन करना है। इस लोकनाट्य के मचंन हेतु गाँव-देहात के किसी चौराहे, ऊँचे टीले या मंदिर के प्रागंण का प्रयोग किया जाता है। प्राचीन समय में मंदिर के प्रांगणों के प्रयोग पर प्रकाश डालते हुए जगदीशचंद्र माथुर ने अपनी पुस्तक में लिखा है "परंपराशील नाट्य की रंग स्थली के विवरण में सबसे पहले मंदिर और देव स्थान का उल्लेख अपेक्षणीय है। मंदिर भारतीय समाज में केवल पूजन का केंद्र नहीं रहा है, बल्कि सामुदायिक जीवन, मनोरंजन तथा कला-सौंदर्य का भी।"[7] भवाई के मचंन हेतु यह भी होता है कि किसी रिक्त स्थान पर भवाई लोकनाट्य का नायक अपनी तलवार से एक वर्गाकार या आयताकार रेखा खीचकर मंच का रूप दे देता है और उसके भीतर ही मंचन प्रारंभ कर दिया जाता है। रेखा खींचकर बनाए गए मंच पवित्र माना जाता है उसमें कलाकार के अन्य किसी व्यक्ति को प्रवेश की अनुमति नहीं होती। दर्शक गण मंच के आसपास अपनी सुविधानुसार बैठ जाते हैं एवं बीच में एक रास्ता छोड़ देते हैं जिससे रंगकर्मी गुजरकर मंच तक जा सके। भवाई लोकनाट्य का रंगमंच अत्यंत सादगी लिए हुए है जिसके मंचन में किसी भी प्रकार की समस्या का सामना नहीं करना पड़ता।

भारत की स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात भवाई लोकनाट्य का विकास हुआ। इस क्षेत्र में दीना गांधी, जयशंकर भोजक और रसिक लाल पारीख आदि ने भवाई की शैली में नवीन प्रयोग किए हैं। एक ओर जहाँ भवाई में नवीन प्रयोग किए जा रहे हैं वही दूसरी ओर अत्यंत दुःख का विषय यह है कि आधुनिकता की चकाचौंध में हम अपनी लोक नाट्यों की महती भूमिका की तिलाजंली दे रहे हैं। भवाई लोकनाट्यों पर अश्लीलता का आरोप भी लगाया गया और इसको वर्जित करने की बात कही गई। इस लोक नाट्य के कलाकारों के यजमान भी आज इनसे किनारा करने लगे हैं। यह नकारात्मकता उचित नहीं। समाज में हास-परिहास, तनाव मुक्ति व मनोरंजन के लिए थोड़ा-बहुत पुट यदि नकारात्मक है तो उसे दरकिनार कर इन कलाकारों की स्वच्छ व परिश्रमी कला को अव्वल दर्जा देना चाहिए। इस कथन को पुष्ट करने के लिए देखे तो पाते हैं कि भारतीय संस्कृति में विवाह के अवसर पर भी हास-परिहास हेतु 'गाली' व अन्य कई रस्मों का निर्वहन आज भी किया जाता है और सभी सगे-संबंधी इसका ठहाकों के साथ आनंद लेते हैं। वैसे भी नीति कवि वृंद कहते हैं कि फीकी बातें भी अवसरानुकूल अपना महत्व रखती है। विवाह में वर-वधूपक्ष द्वारा गाली दी जाती है जिसे शुभ माना जाता है।

"मीठि-मीठि गारिदै, प्रगट की जैमन मोद।

कारन सकल सुख, कारन के कीजियै ।।"[8]

जब भारतीय समाज में हास-परिहास के दौरान इतनी छूट है तो भद्रता का जामा केवल लोकनाट्यों को ही क्यों पहनाया जाना आवश्यक है? आवश्यकता है आधुनिकता के दौर में अश्लीलता के विभिन्न व विशाल माध्यमों को भारतीय सभ्यता व संस्कृति का जामा पहनाना और साथ ही आवश्यक है अपने भीतर लोकपरंपरा को बचाए रखने की, अपने दृष्टिकोण को स्वच्छ करने व विस्तार देने की साथ ही साथ अपनी

धरोहर व संस्कृति को आबाद करने की। इस क्षेत्र में सरकार व रंगकर्मियों द्वारा पुनः धनात्मक कदम उठाए जा रहे हैं जो एक नई आशा का प्रतीक है।

अंततः इतना कहा जा सकता है कि भवाई लोकनाट्य मुख्यतः गुजरात और राजस्थान का प्रमुख लोकनाट्य है। जिसमें नृत्य, गायन, वादन व कला अद्भुत मिश्रण है। भवाई लोकनाट्य अपनी सादगी के साथ-साथ कल्पनाशीलता व प्रबंध पटुता का बेजोड़ सगंम है। यह लोकनाट्य अपनी व्यंग्यात्मक शैली के कारण समाज के सत्य को उजागर करने वाला है। इन सभी विशेषताओं को ध्यान में रखते हुए हमें भवाई लोकनाट्य को संरक्षित कर इनका सम्मान व विस्तार करना चाहिए।

संदर्भ-सूची

1. नाटक और रंगमंच-संपा. डॉ. शिव राममाली एवं डॉ. सुधाकर गोकाकर, लेखः लोक-रंगमंचः प्रकार एवं प्रसार, देवीलाल सामर, पृ. 172, नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली, 1979

2. लोकधर्मी नाट्य-परंपरा-डॉ. श्याम परमार, पीठिका से उद्धत, पृ. 7, हिंदी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी, 1959

3. सतसई-सप्तक, संपा. श्याम सुदंररास, पृ. 287, हिंदुस्तानी एकेडमी, 1931

4. लोकधर्मी नाट्य-परंपरा-डॉ. श्याम परमार, पृ. 42-43, हिंदी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी, 1959

5. राजस्थान के भवाई-देवीलाल सामर और महेंद्र भानावत, पृ.24, भारतीय लोक-कलामडंल, उदयपुर, 1967

6. वही, पृ.25

7. परंपराशील नाट्य- जगदीश चंद्र माथुर, पृ. 84, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, नई दिल्ली, 2006

8. श्रृंगार शिक्षा, वृंदग्रंथावली, संपा. जनार्दन राव चेलेर, पृ. 40/32

- कल्याण कुमार

शोधार्थी, हिंदी विभाग,

दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली